ब्रजभूमि की रासलीला

-डॉ. पूनम शर्मा

'रासलीला' शब्द सुनते ही जहन में ब्रजभूमि और वहाँ होती श्रीकृष्ण की मनोहारी लीलाएँ तस्वीर बनाने लगती हैं। ब्रजभूमि, श्रीकृष्ण और रासलीला तीनों एक-दूसरे के पर्याय बनकर सामने आते हैं। श्रीकृष्ण के बिना रासलीला और ब्रज के बिना श्रीकृष्ण सभी कुछ अधूरा सा लगता है। 'रासलीला' प्रसिद्ध लोकनाट्य है जिसमें श्रीकृष्ण के जीवन पर आधारित लीलाओं को खेला जाता है। ब्रजरत्नदास, 'नंददास ग्रंथावली' में 'रास' पर प्रकाश डालते हुए लिखते हैं- "जिस प्रकार श्रीकृष्ण की लीलाओं में गोवर्धन लीला, गोचारण लीला आदि हैं, उसी प्रकार एक रासलीला कहलाती है, जिसमें भगवान श्रीकृष्ण ने शरद पूर्णिमा को गोपियों को साथ लेकर नृत्य गान तथा क्रीड़ा की थी।... अब रासलीला का अर्थ इतना विस्तृत हो गया है या उसका महत्त्व इतना बढ़ गया है कि उसके अंतर्गत समग्र श्रीकृष्णलीला ले ली गई है और इस लीला को करने वाले रासधारी तथा उनके दल को रासमण्डली कहने लगे हैं।"[1] यदि वर्तमान समय में देखा जाए तो रासलीला कृष्ण जन्म से लेकर आद्यन्त उन घटनाओं का सम्मिलित रूप है, जिसमें भक्तगण श्रीकृष्ण की नाना छवियों को देख मंत्र-मुग्ध होते हैं। आज रासलीला को केवल श्रीकृष्ण के महारासिय संदर्भों में नहीं देखा जाता उसमें श्रीकृष्ण की माखन चोरी लीला, पूतना वध, गोवर्धन धारण लीला, कंस वध लीला, राधा-मिलन, गोपी-चीर हरण लीला शामिल हैं।

रासलीला का प्रारंभ कब और किसके द्वारा हुआ इस विषय पर अनेक विद्वानों ने अपने मत दिए। डॉ. दशरथ ओझा के मतानुसार- "अपभ्रंश से उद्भुत रास परंपरा... सोलहवीं शताब्दी में रसा की नई परम्परा चल पड़ी।"[2] कुछ विद्वानों द्वारा रासलीला के प्रवर्तक के रूप में महात्मा घमण्डदेव, गोस्वामी गोकुलनाथ, वल्लभाचार्य, हितहरिवंश, स्वामी हरिदास नारायण भट्ट के नाम लिए जाते हैं। अधिकतर विद्वानों द्वारा रासलीला के प्रवर्तक के रूप में स्वामी हरिदास जी को स्वीकार किया गया और परंपरा को आगे बढ़ाने वालों में वल्लभ जी का नाम स्वीकार्य रहा। वहीं डॉ विजयेन्द्र स्नातक "श्री नारायण भट्ट और श्री घमण्डदेवाचार्य से पहले वृंदावन में रास का प्रवर्तन हो गया था। यदि रास मंडल (स्थान विशेष) की स्थापना को ही प्रारंभ माना जाए तो इसका श्रेय श्री हितहरिवंश जी को है।"[3] कुछ साक्ष्यों के आधार पर निम्बार्क संप्रदाय से रासलीला के प्रारंभ होने की सूचना भी मिलती है।

श्रीमद्भागवत् से प्रारंभ हुई 'रास' की परंपरा ने सूरदास और नंददास तक आते-आते अपना वैशिष्टय स्थापित कर लिया। सूरदास के 'सूरसागर' में वर्णित कृष्णलीलाओं के बिना रासलीला अधूरी है। सूरदास ब्रजवासी थे उन्होंनें वहाँ के श्रीनाथ मंदिर में रहकर श्रीकृष्ण की बाललीलाओं का वर्णन किया। विशुद्ध ब्रजभाषा में लिखी इन लीलाओं का वर्णन पहले-पहल गांवों से किया जाता था किंतु भक्ति की बहती अजस्त्र धारा ने इसे विदेशों तक पहुँचा दिया। वैसे तो रासलीला का गृह ब्रज ही है, परंतु मथुरा, वृंदावन,

बरसाना, गोकुल आदि कृष्णमय प्रदेशों में इसकी धूम बरकरार है। भक्तों द्वारा कृष्ण के सुन्दर बाल रूप का रसपान करने और उन्हें अपने तारणहार के रूप में देखने के कारण अनेक रासमंडलियाँ बन गई, जिन्होंने श्रीकृष्ण की लीलाओं का खूब प्रचार-प्रसार किया। रासलीला का संबंध केवल कृष्ण की लीलाओं से ही नहीं रह गया अब तो अनेक संगठनों द्वारा बड़े स्तर पर मेलों का आयोजन किया जाता है, जिसमें श्रीकृष्ण की प्रत्येक अवस्था की सुंदर झांकियाँ बनाई जाती हैं और कृष्ण की बांसुरी, पीतपट, उखल-मूसल, ब्रज की कलाएँ, वहाँ के परिधान सब बिक रहे होते हैं। प्रत्येक पर्यटक इसका लुत्फ उठाता है और पूरा परिवेश कृष्णमय बन जाता है।

"कृष्ण-लीला का प्रदर्शन ब्रज क्षेत्र के ग्रामीण इलाकों में भादौं के महीने में किया जाता है। इस समय अनेक मेले भी लगते हैं। जिनमें रासधारी अपनी मण्डली के साथ रासलीला का प्रदर्शन तिथिवार करते हैं। ये मेले जन्माष्टमी के बाद आरंभ होते हैं। भादों कृष्ण द्वादशी को बहुलावन (बाठी) का मेला लगता है। बलदेव छठ को बरसाने के पास कमई गांव में रास का आयोजन किया जाता है। गाजीपुर, ऊँचा गाँव में व्याहुला और भादौ शुक्ला की त्रयोदशी-चतुर्दशी को बरसाने के पास बूढ़ी लीला होती है। अंत में करहला के पास मड़ोई गाँव में महारास का आयोजन किया जाता है जिसमें श्रीकृष्ण स्वरूप ठाकुर के ऊपर पाँच सेर सोने का मुकुट रखा जाता है। भादौं शुक्ला अनंत चतुर्दशी के दिन लीला-कार्य समाप्त हो जाता है।"[4] इस प्रकार उपयुक्त वर्णन भक्तों की रासलीला में गहरी आस्था को प्रकट करता है। सात- आठ दिन चलने वाला यह उत्सव श्रीकृष्ण के प्रति प्रेम और गहरी भक्ति-भावना का प्रतीक है, जिसमें व्रत, पूजा, मेला, दान-दक्षिणा सभी कुछ शामिल होता है।

रासलीला का संबंध जहाँ श्रीकृष्ण से है, वहीं भक्तों की गहरी भावनाओं से भी है। धर्म के साथ जुड़े इसे लोकनाट्य की कथावस्तु जहाँ अलौकिक श्रीकृष्ण के लौकिक कृत्यों से जुड़ दर्शकों को, भक्तों को भावविभोर कर देती है, वहीं भक्ति रस की गंगा में डुबकी लगवा देती है। श्रीकृष्ण की सभी लीलाओं से भारतीय समाज चिर-परिचित है, बच्चे-बच्चे की जुबान पर कृष्ण की कहानियाँ है परन्तु फिर भी निरन्तर होने वाली इनकी लीलाओं का प्रदर्शन हृदय में नवीन रस का संचार करता है। हर भक्त का हृदय इन लीलाओं को देख लौकिक से अलौकिक रस का अनुभव करने लगता है। प्रत्येक हृदय, सहजता और सरलता से प्रदर्शित होने वाली लीला में अपने तारणहार श्रीकृष्ण के दर्शन करते हैं और उनके साथ एकाकार हो जाते हैं। इन लीलाओं में जहाँ भक्ति रस अपने चरम पर होता है वहीं श्रृंगार, हास्य, वीर, करूण, भयानक अपने अंग रूप में आकर भक्त और स्वरूप के बीच तादात्म्य स्थापित करते है।

"रासलीला के पात्रों को 'स्वरूप' कहा जाता है यहाँ 'स्वरूप' शब्द में भक्ति की भावना रहती है। श्रीकृष्ण की लीला किसी लौकिक पात्र की लीला न होकर परब्रह्म के साकार स्वरूप की लीला है।"[5]

सही भी है क्योंकि जब कोई भी कलाकार स्वरूप धर लेता है तो वह स्वयं को भूल जाता है और जिसका रूप उसने धारण किया है उसी का प्रतीक बन जाता है इसीलिए श्रीकृष्ण और राधा के स्वरूप पात्रों को भी उन्हीं के रूप में देखा जाता है। पहले के समय में तो कलाकार किसी देवता का स्वरूप धारण करने से

पहले महीनों उपवास, योग, अभ्यास किया करते थे परन्तु वर्तमान काल में इस तरह के कार्यों में शिथिलता देखी जा रही है। अधिकांशतः रासलीला में श्रीकृष्ण की आनन्द देने वाली, भावविभोर करने वाली लीलाओं का प्रदर्शन किया जाता है, जिसमें उनकी बाल-लीलाएँ और किशोरावस्था की लीलाएँ शामिल होती हैं इसलिए इन स्वरूपों को धारण करने वाले कलाकार भी बाल कलाकार और युवा होते हैं, स्त्री पात्रों में राधा, यशोदा, देवकी, राधा की सखियाँ, गोपियाँ आदि सम्मिलित रहती हैं। ये सभी स्वरूप भक्तों के परमप्रिय और उन्हें आनन्द देने वाले होते हैं इसलिए इनकी वेशभूषा और इनकी मुख सज्जा पर विशेष ध्यान दिया जाता है। इन सलोने बालकों का साज-श्रृंगार इन्हें और अकर्षित बना देता है। बालक कृष्ण के स्वरूप को मकराकृत कुण्डल, मखमली चमकीले रंग के वस्त्र, पीतपट, मोतियों की माला, हाथों में कंगन पहनाएँ जाते हैं, जिससे उनकी मोहिनी मूर्ति पूरे वातावरण को कृष्णमय बना देती है। इन लीला पात्रों की मुख-सज्जा चन्दन में रोली मिलाकर तैयार किए गए लेप से की जाती है। जो इन्हें आकर्षक और दिव्य रूप देता है।

श्रीकृष्ण के रूप में जो बालक प्रदर्शन करता है उसे ठाकुर कहा जाता है। वह 'ठाकुर' तब बनता है, जब कोई रासधारी (रासमण्डल का स्वामी) उसके शीश पर श्रीकृष्ण का मुकुट धारण करता है। रास में कृष्ण के यह मुकुट कुछ मण्डलियों की भावनानुसार दायीं ओर झुके रहते हैं और कुछ बायीं ओर। जिन मण्डलियों के कृष्ण, रास में दायीं ओर झुका मुकुट धारण करते हैं वे अपने को वल्लभ तथा जो मंडली बायीं और झुका मुकुट धारण करती हैं वे अपने को निम्बार्कीय मंडली मानती है। इन तथाकथित वल्लभ कुली तथा निम्बार्कीय मंडलियों की रास पद्धति एकदम समान है, परन्तु मुकुट को लेकर ही इन मण्डलियों के दो दल हो गए हैं।"[6] अब अधिकांशतः वल्लभ सम्प्रदाय से सम्बंधित मण्डलियों की ही धूम दिखाई दे रही है। इनके अतिरिक्त अनेक सेठों द्वारा दिए गए दान के आधार पर भी कुछ मण्डलियाँ अस्तित्व में आई, इनके द्वारा प्रस्तुत लीलाओं पर पूर्णतः इन सेठों का वर्चस्व रहता है। कलाकारों का साज-श्रृंगार अथवा वेशभूषाओं का चयन लगभग परम्परागत तरीके का निश्चित ही है परन्तु फिर भी इन पर सम्प्रदायों की विशिष्ट छाप तो देखी ही जाती है। श्रीकृष्ण-राधा जैसे सत् पात्रों की छवि जहाँ मन को मोहने वाली होती है वहीं कंस, बकासुर, पूतना जैसे असत् पात्रों को पारसी युग से ही काले वस्त्र पहनाएँ जाते हैं जो वर्तमान में भी प्रचलित हैं डॉ. रामनारायण अग्रवाल इस संदर्भ में लिखते हैं- "... पारसी मंच का भी रास की वेशभूषा पर प्रभाव पड़ा है। कंस की ड्रेस इसका उदाहरण है।"[7] मुख्य कलाकारों के अतिरिक्त एक मनसुखा हंसाने वाला पात्र भी होता है जो कृष्ण, ग्वाल, गोपियों को अत्यधिक प्रिय होता है। उसकी वेशभूषा और अलंकरण, उसकी अवस्था के अनुरूप होती है। आहार्य अभिनय, जो वेशभूषा और अलंकरण के माध्यम से होता है, उसकी मंच पर विशेष भूमिका होती है क्यांकि दर्शकों को बड़ी आसानी से हर पात्र चिन्हित हो जाता है ओर वेशभूषा और अलंकरण, पात्र के चरित्र को भी व्याख्यायित करते हैं। ये पात्र इन विशेष वेशभूषा के साथ मंच पर आते हैं तो मंगलाचरण की ध्वनि शुरू हो जाती है। कई स्थानों पर रासलीला के प्रारम्भ होने के कुछ दिन पूर्व ही यज्ञ अनुष्ठान की परम्परा भी देखी जाती है। डॉ. रामनिवास शर्मा लिखते हैं- "प्राचीन समय में रासलीला से पूर्व अनुष्ठान की एक विशेष परम्परा थी। साहित्यिक नाटकों में महेन्द्र ध्वज स्थापन, रंग देवता पूजन और नान्दी आदि कर्मकाण्ड का विधान था। जिस प्रकार आजकल नाटकों में पूर्वरंग का लोप हो गया है, उसी प्रकार रासलीला में भी इस विधि का पालन प्रायः कहीं नहीं

दिखाई देता। कोई-कोई रासधारी घटस्थापन तो कर लेते हैं, पर तुरन्त ही मंगलाचरण प्रारम्भ हो जाता है और शेष कर्मकाण्ड छोड़ दिया जाता है।"[8]

रासलीला हमारी लोक संस्कृति की जीवन्त छवि है। इसका प्रभुत्व विदेशों में भिन्न-भिन्न छवियों के साथ देखा जाता है। स्थान और परिस्थिति के अनुरूप ही इसके मंच भी बनाए जाते हैं। कहीं रासलीला, मंदिरों के आँगन में होती है तो कहीं खुले मैदान में। ग्रामीण क्षेत्रों में होने वाली रासलीलाएँ गांव की चैपाल में होती हैं तो वहीं वृन्दावन में तो अलग-अलग लीला के लिए अलग-अलग रंगस्थल निश्चित कर दिए गए हैं जैसे ऊँचा गाँव (चन्द्रावली लीला) करहला (महारास), मानपुरा (मान लीला), कामवन (काम मद मर्दन लीला), कोकिलावन (पनघट लीला) मधुबन (ब्रजयात्रा लीला) कदमखंडी (गोचारण लीला) चीरघाट (चीरहरण लीला) दधिग्राम (दधिदान लीला) आदि। इसी तरह यदि दिल्ली की रासलीला मण्डली को देखा जाए तो इसके लिए एक बड़ा शामियाना लगाया जाता है जिसमें एक बड़ा सा मंच बनाया जाता है जो अस्थायी लकड़ी के तख्तों और खम्भों से बना होता है। जन्माष्टमी के दिन सायं 3-4 बजे से ही झांकी शैली की रासलीला शुरू हो जाती है। बच्चों को सुन्दर-सुन्दर पोशाकें पहनाकर टैम्पू में बैठा दिया जाता है, कीर्तन मण्डली साथ-साथ गाती बजाती चल रही होती है। प्रसाद वितरण माखन-मिश्री के रूप में भक्तजनों को मिल रहा होता है। इस झांकी शैली की रासलीला में कहीं श्रीकृष्ण,

बाँसुरी बजाते गोप-ग्वालों के साथ खड़े दिखाए देते हैं तो कहीं कालिया-नाग का मर्दन करते दिखाई देते हैं। 3-4 घंटे के अनवरत कीर्तन के साथ-साथ पूरे प्रदेश में इन झाकियों को घुमाया जाता है तत्पश्चात् किसी मन्दिर के प्रांगण में या कहीं शामियानें की व्यवस्था वाले मंच पर जाकर यह झांकी शैली समाप्त होती है और फिर वहाँ कृष्ण की अनेक लीलाओं का मंचन रात्रि बारह बजे तक होता है। रात्रि बारह बजे कृष्ण जन्मोत्सव की बधाई के साथ पूरा वातावरण कृष्णमय हो जाता है जहाँ 'आज तो बधाई बाजे रंगमहल में' की ध्वनि चारों तरफ सुनाई देने लगती है जहाँ कहीं रासलीला झांकी शैली में न होकर मंच की स्थापना के साथ होती है वहीं मंच के एक किनारे पर अपने-अपने वाद्ययंत्र लिए समाजी दल भी बैठा होता है। रासलीला में संगीत और नृत्य की प्रधानता देखी जाती है। रासलीला का आरम्भ ही श्रीकृष्ण और राधा की स्तुति अथवा मंगलाचरण से होता है कहीं यह रंगमंच बड़ा साधारण होता है, जहाँ गद्दे और सफेद चादर बिछाकर मंच बना लिया जाता है। पीछे एक परदा टांग दिया जाता है और समाजी दल, दर्शक के सम्मुख ही बैठा होता है। किसी भी मंच पर अर्थात् लोकनाट्यों के मंच पर परदे का विशेष महत्त्व होता है। जिससे दृश्य बदलने में आसानी होती है। वर्तमान में भी रासलीलाओं के मंच पर परदा देखा जाता है। डॉ. सुरेश अवस्थी परदे के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए लिखते हैं "रासलीलाओं में जो एक साधारण पढ़ें-किसी चादर या शाल का प्रयोग किया जाता उसकी भी कई तरह की नाटकीय उपयोगिताएँ हैं। कथाकली नाटकों के समान ही रासलीलाओं का पर्दा कोई भी दो रासधारी या समाजी या रसिक दर्शक हाथों में पकड़कर आसन के सामने तान कर खड़े हो जाते हैं। कभी- कभी पात्रों के प्रवेश, प्रस्थान के लिए भी इसका प्रयोग किया जाता है। आज भी रासधारियों द्वारा आडम्बर से रहित ऐसे रंगमंचों का प्रयोग किया जाता है।"[9] अलग-अलग स्थानों पर अलग-अलग रंगों का प्रयोग देखा जाता हैं कहीं सफेद रंग के परदे का चलन है तो कहीं

लाल। मंच पर एक सिंहासननुमा कुर्सी रख दी जाती है और उसके आगे परदा लगाकर नौका के दृश्य, विमान के दृश्य बना लिए जाते हैं। कुछ स्थानों पर चित्रात्मक शैली के दर्शन भी होते हैं जहां चित्र लगाकर दृश्य परिवर्तन किया जाता है। कुछ दृश्यों को मंच पर दिखाना कठिन होता है इसलिए पीछे उनके चित्र लगाकर दर्शक को उस वातावरण से परिचित करवाया जाता है। कुछ मण्डलियों के साथ निपुण कारीगर भी होते हैं जिनका मंच भी बड़ा होता है, वहाँ कारीगरों द्वारा लकड़ी, कागज, कपड़े, फूल-पत्तियों के द्वारा मंच को सजाकर वन-उपवन के दृश्य बनाए जाते हैं जो बड़े ही कलात्मक जान पड़ते हैं।

हर प्रदेश की रासलीला अपनी एक अलग विशिष्टता लिए हुए होती है। ग्रामीण प्रदेश की रासलीला जहां छोटे स्तर की होती है, वहाँ मंच-सज्जा उतनी उत्कृष्ट कोटि की नहीं होती परन्तु बड़े प्रदेशों की रासलीला जैसे मथुरा, वृन्दावन, ब्रज की रासलीला बड़े स्तर की होती है जो कई दिनों तक चलती है, जहाँ के मंच बड़े भव्य बनाए जाते है जहाँ महीनों पहले तैयारियां शुरू हो जाती है। वहाँ के मेले, वहाँ की रोशनी, साज-सज्जा सब देखते ही बनती है। विदेशी वहाँ इस अवसर पर अवश्य ही रासलीला देखने जाते हैं। ब्रज के श्याम का श्रृंगार कभी फूलों से किया जाता है और वे फूल भी साधारण फूल नहीं, किस्म-किस्म के अलग-अलग राज्यों से मंगाए जाते हैं। कभी श्याम के स्थान को फलों से सजाया जाता है। होली पर खेली जाने वाली लीलाएँ, अबीर और गुलाल के मोहक रंग ब्रज को अलौकिक बना देते हैं। वहाँ के बाग-उपवन पर्यटकों के लिए एक जादुई स्थान जैसे होते हैं, जहाँ हर कोई राधामय और कृष्णमय होता है। केवल एक ही मण्डली यहां कार्य नहीं कर रही होती अनेक मण्डलियां इस भव्य आयोजन में शामिल होती हैं। ब्रज का हर वासी रासलीला को अनोखा बनाने में लगा होता है। कृष्ण के प्रति प्रेम, भक्ति और उनसे भक्त का अनोखा रिश्ता यहाँ दिखाई देता है। रासलीला को एक विशिष्ट स्थान दिलाने में रासमण्डलियों का भी महत्वपूर्ण स्थान है। डॉ. रामनिवास शर्मा के अनुसार वर्तमान समय में लगभग पच्चीस रासमण्डलियाँ कार्यरत हैं किन्तु पाँच मण्डलियां अधिक प्रसिद्ध हैं, जो मार्मिक दृश्य प्रस्तुत करने में सक्षम हैं। वे हैं- स्वामी रामस्वरूप की मण्डली, कृष्णफते की मण्डली, दामोदर मण्डली, श्यामसुन्दर की मण्डली और कृष्णदास की मण्डली।"[10] इन मण्डलियों के सदस्य संगीत और नृत्य कला में दक्ष होते हैं। इनके संगीत मे वह जादू होता है जो दर्शक समाज को घण्टों तक बांधे रखता है। इनके पास सभी तरह के वाद्य यंत्र होते हैं- ढोल, मंजीरे, हारमोनियम, बांसुरी सभी का जादू चारों तरफ फैल जाता है। इन मण्डलियों का कार्य केवल गीत-नृत्य तक ही सीमित नहीं होता। अपनी मण्डली के सभी कलाकारों को अभिनय में कुशल करना भी होता है। महीनों पहले अपने-अपने अभिनय में दक्षता हासिल करने लगते हैं। बार-बार संवादों को बोलकर देखा जाता है। ग्रामीण क्षेत्रों में होने वाली रास लीलाओं में ध्वनि और प्रकाश की इतनी व्यवस्था नहीं होती इसलिए संवादों के बोलने के तरीके पर बहुत जोर दिया जाता है।

लीला नाट्य अपने-आप में विशिष्ट तो हैं ही लेकिन इनकी विशिष्टता का चरम इनके अभिनय में भी देखा जाता है। अभिनय में हाथ-पैर चालन, अंग-मुद्रा, नेत्रों द्वारा किए गए संकेत बहुत महत्वपूर्ण होते हैं इसलिए स्वरूपों द्वारा किए गए अभिनय के अभ्यास पर विशेष बल दिया जाता है। बाल-लीला, माखन चोरी लीला का अभिनय करने वाले छोटे-छोटे बालकों का अभिनय, उनके संवाद मन को मोहने वाले होते हैं, जो विशेष

आकर्षण का केन्द्र होते हैं। अभिनय के दौरान प्रयोग होने वाली सामग्री मंच पर पहले से ही रखी होती है, जिसका समयानुसार प्रयोग किया जाता है।

पूरे भारत और विदेशों में भी जन्माष्टमी के अवसर पर तो रासलीलाएं होती ही हैं परन्तु वर्ष भर भी इसके आयोजन चलते रहते हैं डॉ. लक्ष्मी नारायण लाल कहते हैं- "समूचे उत्तर भारत और पश्चिमी भारत में रासलीलाएँ वर्ष में लगभग आठ माह देश के विभिन्न भागों में खेली जाती थी और अनेक रासमण्डलियाँ समूचे हिन्दी-भाषी क्षेत्रों में घूम-घूमकर लीलाएँ दिखाती थीं तथा धन और यश अर्जित करती थी।"[11]

रासलीला धार्मिक लोक नाट्य है जो भारतीय जनमानस के हृदय में कहीं गहरे में रचा-बसा है परन्तु वर्तमान में धर्म के साथ-साथ मनोरंजन का भाव भी समाहित हो चुका है। जो प्रादेशिक रासलीलाओं में अधिक मुखर रूप से सामने आता है। शिव कुमार मधुर इस विषय पर अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखते हैं- "विभिन्न रास मण्डलियों ने व्यावसायिकता के कारण सस्ते मनोरंजन की प्रवृत्तियों को प्रश्रय दिया है। यहाँ तक कि धन के लालच में वे समय-असमय श्रीकृष्ण का नर्तन करा देते हैं ओर पैसा बटोरते हैं। सस्ती फिल्मी तर्जों ओर मनसुखा के माध्यम से फूहड़ फब्तियों के कारण रासलीला मंच की पावनता को गहरा आघात लगा है।"[12]

इन रासमण्डलियों पर पारसी रंगमंच का प्रभाव सहज ही देखा जा सकता है। सस्ता मनोरंजन कर अधिक पैसा कमाना ही इनका उद्देश्य होता है। इनका उद्देश्य पैसा कमाना भले ही हो किन्तु भक्तजन पूरे भक्ति-भाव और उत्साह के साथ इन रासलीलाओं का आनन्द लेते हैं। श्रीकृष्ण के प्रति उनकी भक्ति, समर्पण की भावना, श्रद्धा, विश्वास देखते ही बनता है जो हमारी संस्कृति का मेरूदण्ड है। ये लोक नाट्य रूप ही हमारी आने वाली पीढ़ी को संस्कार और संस्कृति से परिचित करवाएंगे इसलिए इनका इसी रूप में जीवित रहना आवश्यक है।

संदर्भ ग्रंथः

1. नन्ददास ग्रंथावलीः सं. ब्रजरत्नदास, नागरी प्रचारिणी सभा काशी, पृष्ठ 73

2. हिन्दी नाटकः उद्भव और विकासः दशरथ ओझा, पृष्ठ 13

3. हिन्दी रंगमंच का लोकपक्षः सं. डॉ. रमेश गौतम, पृष्ठ 105

4. वही, पृष्ठ 105

5. नाटक के सौ बरस सं. हरीशचन्द्र अग्रवाल, पृ. 222

6. हिन्दी रंगमंच का लोकपक्षः सं. डॉ. रमेश गौतम, पृ. 110

7.वही. पृ. 110 7.

8.लोक साहित्य और लोक संस्कृतिः डॉ. रामनिवास शर्मा, पृ. 73

9. हिन्दी रंगमंच का लोकपक्षः सं. डॉ. रमेश गौतम, पृ. 114

11. पारसी-हिन्दी रंगमंचः डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल, पृ. 146

12. हिन्दी रंगमंच का लोकपक्षः सं. डॉ. रमेश गौतम, पृ. 113

-डॉ. पूनम शर्मा

माता सुंदरी महाविद्यालय,